letter2:letter1.qxd 9/26/2010 8:41 PM Page 104

प्रिय युवा बंधुओं और बहनों, 24 दिसंबर, 2004

मैं यह पत्र गहरे दुःख और क्षोभ के साथ, परंतु पूरी जिम्मेदारी के भाव से लिख रहा हूं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हमारा संघर्ष काफी यातनापूर्ण था और बहुत लंबे काल तक चलता रहा। इसके लिए देश के लाखों नौजवानों ने अपने प्राणों की आहुति दी। परंतु, इस सबके बावजूद इसकी परिणति खंडित भारत के रूप में हुई।

हमने संसदीय लोकतंत्र को चुना और मानव अधिकार के मूल तत्वों को अपने संविधान में शामिल किया। इसी संविधान ने केंद्र तथा राज्यों में विधायिका की व्यवस्था दी जो देशभर में एक संवदनशील तथा उत्तरदायी शासन सुनिश्चित कर सके। दुर्भाग्य से इसकी परिणति एक ऐसे राजनीतिक नेतृत्व के रूप में हुई जिसने लोकतंत्र की मूल भावना से ही धोखा किया। यह राजशाही के संस्थानों की याद दिलाता है। स्थिति शायद उससे भी बुरी बनी है।

हमारे एक तिहाई से ज्यादा देशवासी अत्यंत गरीबी से जुझ रहे हैं। वे अपने मूलभूत अधिकारों से भी वंचित हैं। लगभग आठ करोड़ युवक-युवतियां बेरेजगारी की यातनाएं सहने के लिए मजबूर हैं। वहीं दूसरी ओर हमारे राजनीतिक नेतागण, विशेषकर हमारे चुने हुए प्रतिनिधि अधिकाधिक धनवान बनते जा रहे हैं। इसने निश्चित रुप से हमारे लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को गिरावट में मिलाया है।

इस सबके ऊपर विडंबना यह है कि ऋण के बोझ तले दबती सरकार जहां बजट घाटे को नियंत्रित करने में नाकाम है वहीं जनता के तथाकथित प्रतिनिधि बेशर्मी से अपनी सुख-सुविधाओं का बोझ देश पर लादते चले जा रहे हैं। चूंकि विभिन्न राज्य सरकारों की राजस्व व गैर-राजस्व आय विभिन्न उत्तरदायित्वों की पूर्ति में चुक जाती है, इसलिए उन्हें विकास कार्यों के लिए आंतरिक व बाहरी कर्ज का सहारा लेना पड़ता है। इस तरह सरकारों के लिए विकास की प्राथमिकता दूसरे पायदान पर आती है।

वर्ष 2003-04 में केंद्र सरकार का आंतरिक व विदेशी कर्ज क्रमशः 11,34,020.35 करोड़ रुपये था। वहीं इस राशि पर केवल ब्याज के रुप में वर्ष 2003-04 में 1,24,554-92 करोड़ रुपये की मोटी रकम खर्च की गई थी।

राज्य सरकारों पर भी इस समय 7,91,400 करोड़ रुपये की भारी भरकम कर्ज का बोझ है। प्रतिवर्ष इन राज्यों को अन्य गैर उत्पादक कार्यों के अलावा ऋण के इस बोझ को कम करने के लिए भी भारी भरकम धनराशि खर्च करनी पड़ती है। इसने एक ऐसे दुष्चक्र को जन्म दिया है जिससे न केन्द्र सरकार और न ही राज्य सरकारें बाहर आ पा रही हैं।

आगामी अनुच्छेद इस दुःखद स्थिति की कहानी बयान करते हैं। संसद सदस्यों के वेतन और भत्तों के लिए 1954 में लागू किए गए कानून में 2002 तक 25 संशोधन किए जा चुके हैं। जाहिर है, इनका एकमात्र उद्देश्य तथा भावना सांसदों के वेतन, भत्तों, पेंशन व अन्य सुविधाओं में बढ़ोतरी करना ही था। कभी भी इस कानून की समीक्षा का प्रयास नहीं किया गया। ना ही सरकारी कर्मचारियों के वेतन निर्धारण के लिए वेतन आयोगों द्वारा हर दस वर्ष में अपनाई जाने वाली नीति की तरह मध्यम व दीर्घकालिक दृष्टि से निर्णय किया गया। इसकी निरंतरता में तदर्थवाद की झलक ही मिलती है जिसका सीधा लाभ इन संसद सदस्यों को ही मिलता है। कोई भी परिवर्तन (बेशक उत्तरोत्तर वृद्धि) करने के लिए केवल संसद के दोनों सदनों की संयुक्त समिति की अनुशंसा की जरुरत होती है। बिना किसी अपवाद के इस मामले में संसद की अनुमति महज औपचारिकता होती है। आम आदमी की समस्याओं और जनकल्याण से जुड़े मामलों पर विभिन्न राजनैतिक मतों में भले ही कभी आमराय न बनती हो, परंतु वह एक ऐसा विषय है जिस पर सभी राजनीतिक दल, चाहे वामपंथी हों, दक्षिण पंथी या मध्यमार्गी, सभी एक सुर में बोलते नजर आते हैं। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि पिछले 50 सालों में सांसदों के वेतन और भत्तें 90 गुना बढ़ गए हैं। यह लोकतंत्र का मजाक नहीं तो और क्या है?

यह न केवल आर्थिक व्यवहार के नियमों का उल्लंघन है बल्कि प्रशासनिक विधान की भी अवहेलना है। किसी भी ऐसी आवश्यकता जिसके लिए सरकारी खजाने से धन जाता हो, उसकी जाँच व अनुमति का काम ऐसी इकाई को करना चाहिए जिस पर इन निर्णयों का सीधा प्रभाव न पड़ता हो। नियम बदलने के अधिकारों से तैस कुछ सौ लोग इनका इस्तेमाल अपने निजी लाभ के लिए भी करने में नहीं हिचकते। दुनिया में कहीं भी संसदीय लोकतंत्र के अपहरण की इतनी घिनौनी मिसाल शायद ही कहीं मिलेगी।

पत्र के साथ संलग्न आंकड़ों पर नजर डालें तो मालूम पड़ता है कि सरकार हर महीने सांसदों को वेतन व भत्तों के रुप में लगभग 36,000 रुपये देती है, जिसमें से केवल 12,000 रुपये का वेतन ही आयकर के दायरे में आता है। इसे भी सरकारी बचत योजनाओं में थोड़े से निवेश से बचाया जा सकता है। सांसद दिल्ली में रहने के लिए नाममात्र का लायसेंस शुल्क अदा करते हैं जो इन आवासों की बाजार किराया दरों का नगण्य अंश है। यदि मुत आवास, फोन कॉल्स (एसटीडी कॉल सहित) मोबाइल फोन, मुफ्त बिजली, पानी चिकित्सा सुविधा, बिशुल्क उच्चतम श्रेणी की हवाई तथा रेल यात्रा का आर्थिक मूल्य जोड़ें तो एक सांसद पर मासिक खर्च कम-से-कम तीन लाख रुपये होता है। मोटे तौर पर यह एक भारतीय की सालाना प्रतिव्यक्ति आय का 150 गुना है। इसके अलावा कई अन्य प्रत्यक्ष खर्च भी हैं।

राज्य सरकारें भी चूंकि केन्द्र का ही प्रतिबिंब हैं अतः यदि राज्यों द्वारा वर्तमान व भूतपूर्व विधायकों के वेतन, भत्ते, पेंशन व अन्य सुविधाओं पर खर्च की जाने वाली राशि जोड़ें तो भारतीय लोकतंत्र की कीमत का आंकड़ा बहुत ही विराट होगा, सुरसा के मुंह से भी बड़ा, क्योंकि इस समय विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं तथा विधान परिषदों में सदस्यों की संख्या 5,269 है। इस तरह की फिजूलखर्ची लाकतंत्र के गूलभूत सिद्धांत के खिलाफ है, जो आम आदमी के लिए शांति, सुख समृद्धि और न्याय सुनिश्चित करने वाली प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करने की बात करता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजशाही उस समय अलोकप्रियता तथा घृणा का केन्द्र बन गई थी, जब राजा द्वारा अपने अधिकारों का दुरुपयोग प्रजा के लिए असहनीय हो गया था। शासकों ने राजस्व आय का बड़ा भाग अपने ऐशो-आराम और भोग विलास के लिए खर्च करना शुरु कर दिया था जबकि लोगों की परेशानियां वहीं-की-वहीं थी।

साठ के दशक में भारत सरकार ने प्रिवी पर्स इस तर्क के साथ खत्म कर दिया था कि इसे जारी रखना औचित्यहीन है क्योंकि वर्तमान व्यवस्था में राजा/राजकुमार लोक कल्याण के किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते हैं। लेकिन आज सांसदों, पूर्व सांसदों, पूर्व प्रधानमंत्रियों व पूर्व राष्ट्रपतियों और पूर्व उपराष्ट्रपतियों को मिलने वाले भत्ते व सुख सुविधाएं भी इसी 'प्रिवी पर्स' का ही नया अवतार नजर आते हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि पिछले वर्ष मंत्रिपरिषद

हमारे एक तिहाई से अधिक देशवासी अत्यंत गरीबी से जूझ रहे हैं। वे अपने मूल भूत अधिकारों से भी वंचित हैं। वहीं दूसरी ओर हमारे राजनीतिक नेतागण अधिकाधिक धनवान बनते जा रहे हैं।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजशाही उस समय अलोकप्रियता तथा घृणा का केंद्र बन गई थी, जब राजा द्वारा अपने अधिकारों का दुरूपयोग प्रजा के लिए असहनीय हो गया था।